कुण्डलिनी योग : एक चिन्तन

—डा. रुद्रदेव त्रिपाठी

[एम-ए० (द्वय), पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आचार्य,
विशेष कर्त्तव्याधिकारी
बृजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र, उज्जैन]

कुण्डलिनी का स्वरूप-निरूपण

आत्मानुभूति के व्यावहारिक विज्ञान की परम्परा में 'दो वस्तुओं के मिलन को '**योग**' की संज्ञा दी गई है।' 'कुण्डलिनी-योग' का तात्पर्य भी यही है कि—"शिव और जीव के मध्य पड़े माया के आवरण को हटाकर जीव का उसके मूलस्वरूप शिव से ऐक्य कराना।" कुण्डलिनी मानव की जीवनीशक्ति है और इसका निवास मूलाधार में है, वहीं स्वयम्भूलिङ्ग अवस्थित है तथा कुण्डलिनी उसको साढ़े तीन आवर्तों से वेष्टित कर अपने मुख से सुषुम्ना-पथ को रोककर सुषुप्त अवस्था में स्थित है। योगादि क्रियाओं के द्वारा साधक इसी सुषुम्ना-पथ जिसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं—की सुषुप्त शक्ति को जागृत कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने का प्रयास करता है।

यह कुण्डलिनी '**बिसतन्तुतनीयसी**' कमलनालगत तन्तु के समान पतले आकार वाली है। '**प्रसुप्त भुजंगाकारा**' भी इसे ही कहा गया है। तन्त्र शास्त्र में कुण्डली का ध्यान अत्यन्त विस्तार से बतलाया है। यथा—

मूलोन्निद्रभुजङ्गराजसदृशीं यान्तीं सुषुम्नान्तरं,
भित्त्वाधारसमूहमाशु विलसत्सौदामिनी-सन्निभाम्।
व्योमाम्भोजगतेन्दुमण्डलगलद् दिव्यामृतौघैः पतिं,
सम्भाव्य स्वगृहागतां पुनरिमां सञ्चिन्तये कुण्डलीम्॥

इसके अनुसार यह कुण्डलिनी मूलाधार से उन्निद्र भुजङ्गराज के समान ऊपर उठती हुई, आधार समूह का भेदन कर बिजली के सदृश तीव्रता से चक्रवती हुई तथा सहस्रदल कमल में विराजमान चन्द्र-मण्डल से झरते हुए दिव्य अमृत समूह के द्वारा पति को सम्भावित कर वापस लौट आती है।

Jain Education International www.jainelibrary.org

ऐसी ही कुण्डलिनी का स्मरण साधक वर्ग चिरन्तन काल से करता आया है। शास्त्रकारों ने कुण्डलिनी के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तार से और अत्यन्त सूक्ष्मता से गम्भीर विचार व्यक्त किये हैं। 'रुद्रयामल' में कहा गया है कि—यह देवी (कुण्डलिनी) शक्तिरूपा है, समस्त भेदों का भेदन करने वाली है तथा कलि-कल्मष का नाश करके मोक्ष देने वाली है।

कुण्डलिनी आनन्द और अमृतरूप से मनुष्यों का पालन करती है तथा यह श्वास एवं उच्छ्वास के द्वारा शरीरस्थ पञ्च महाभूतों से आवृत होकर पञ्चप्राणरूपा हो जाती है। कुडली परदेवता है। मूलाधार में विराजमान यह कुण्डली 'कोटिसूर्य प्रतीकाशा, ज्ञानरूपा, ध्यान-ज्ञान-प्रकाशिनी, चञ्चला, तेजोव्याप्त-किरणा, कुण्डलाकृति, योगिज्ञेया एवं ऊर्ध्वगामिनी आदि महनीय स्वरूप वाली है। रुद्रयामल के एक पद्य में कुण्डलिनी की स्तुति करते हुए यही बात इस रूप में कही गई है—

आधारे परदेवता भव-नताऽधः कुण्डली देवता,
देवानामधिदेवता त्रिजगतामानन्दपुञ्जस्थिता।
मूलाधार-निवासिनी त्रिरमणी या ज्ञानिनी मालिनी,
सा मां पातु मनुस्थिता कुलपथानन्दैक-बीजानना ॥ ३२ / २१ ॥

अनुभवी आचार्यों की यह निश्चित धारणा है कि मानव-शरीर में ऐसी अनेक क्रियाओं के केन्द्र हैं जिनके अधिकांश भाग अवरुद्ध हैं, बहुत थोड़े भाग ही उनके खुले हैं और वे तदनुकूल कार्य करते हैं। शास्त्रों में उन्हें दैवी क्रिया कहा है, जिनका उपयोग करने के लिये व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है और वह प्रयत्न बाह्य-प्रक्रिया-साध्य नहीं, अपितु साधना-साध्य ही है। जब यह आधार-बन्ध आदि क्रियाओं के द्वारा समुत्थित होकर सुधा बिन्दुओं से त्रिधामबीज शिव की अर्चना करती है तो आत्मतेज का अपूर्व दीपन हो जाता है। इसका गमनागमन अत्यन्त वेगपूर्ण है। नवीन जपापुष्प के समान सिन्दूरी वर्ण वाली यह वस्तुतः भावनामात्र गम्या है क्योंकि इसका स्वरूप चिन्मात्र और अत्यन्त सूक्ष्म है। सुषुम्ना के अन्तवर्ती मार्ग से जब यह चलती है तो मार्ग में आने वाले स्वाधिष्ठानादि कमलों को पूर्ण विकसित करती हुई ललाटस्थ चन्द्रबिम्ब तक पहुँचती है और चित्त में अपार आनन्द का विस्तार हुई पुनः अपने धाम पर लौट आती है। अतः कहा गया है कि—

गमनागमनेषु जाङ्घिकी सा, तनुयाद् योगफलानि कुण्डली।
मुदिता कुलकामधेनुरेषा, भजतां वाञ्छितकल्पवल्लरी ॥

कुण्डलिनी-प्रबोधन के विभिन्न प्रकार

शास्त्र एवं अनुभव के दो पंखों के सहारे साधक अपनी साधना-सम्बन्धी व्योमयात्रा करता है और स्वयं के अनवरत अभ्यास तथा अध्यवसाय से निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों में **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** के अनुसार एक सत्य का उद्घाटन करने के लिये उसका बहुविध कथन प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनुभवों की भूमिका भी वैविध्य से अछूती नहीं रहती। इसका एक अन्य कारण यह भी होता है कि देश, काल एवं कर्त्ता की भिन्नता से तदनुकूल व्यवस्था का सूचन भी उसमें निहित रहता है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

कुण्डली-प्रबोधन के लिये शास्त्रकारों ने भी इसीलिये अनेक प्रयोग दिखलाये हैं। ऐसे उपायों में (१) योग-शक्ति-मूलक, (२) भक्ति-मूलक (जप-पाठरूप), और (३) औषध सेवन मूलक प्रयोग प्रमुख हैं। वैसे साधना के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया में सहयोगी होते हैं, उनकी लघुता और दीर्घता पर शङ्का किये बिना उनका सहयोग प्राप्त करना ही चाहिये अन्यथा जैसे किसी मशीन की संचालन-क्रिया में किसी भी छोटे अथवा बड़े पुर्जे की खराबी से बाधा पहुँचती है उसी प्रकार इस कार्य में भी बाधा आती है।

चूँकि कुण्डलिनी-प्रबोधन अनन्त शक्तियों के साथ-साथ मोक्ष के द्वार तक पहुँचाने वाला है, अतः स्वाभाविक है कि इसके जागरण के उपाय तथा इसे प्रबुद्ध करने वाली साधना बहुत सहज नहीं है। इसी कारण ऐसी साधना को साधकगण सदा से ही गुरु-परम्परा से प्राप्त करते रहे हैं, और गुरुजन भी अधिकारी शिष्य को ही यह विद्या देते थे; अतः इस साधना का सुस्पष्ट वर्णन किसी ग्रन्थ में पूर्णरूपेण नहीं मिलता है तथापि जो प्राप्त है उसका वर्णन इस प्रकार है—

(१) योग-शक्ति-मूलक उपाय

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कुण्डलिनी स्वयम्भूलिङ्ग में साढ़े तीन बार आवेष्टित होकर स्थित है और सुषुम्ना का मुख तथा कुण्डलिनी का मुख पास-पास है अथवा सुषुम्ना का मुख कुण्डलिनी के मुख में बन्द है। इसी कारण कुण्डलिनी में चेतना हीनता बनी रहती है जिसे साधना के द्वारा प्रबुद्ध करने पर उसका मुख खुल जाता है और सुषुम्ना का मुख भी खुल जाता है। फलतः कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।

योगशास्त्र के आचार्यों ने इस रहस्य को **ग्रन्थित्रय-भेदन** के माध्यम से समझाते हुए बतलाया है कि—

(१) कन्दस्थान से मूलाधार चक्र के मध्य का भाग **'ब्रह्मग्रन्थि'** स्थल है। यह सुषुम्ना का चतुर्थ भाग भी कहलाता है। यही एक ओर से मूलाधार चक्र के पास सुषुम्ना के तृतीय भाग से जुड़ता है और दूसरी ओर कन्द से जुड़ा हुआ है। शरीर की सभी नाड़ियाँ इसी कन्द स्थान पर आकर मिलती हैं और सुषुम्ना से प्राप्त चेतना से विषयबोध अथवा क्रियाचेतना को प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर में फैलाती हैं। यही वह स्थान है जहाँ से विद्युत् का वितरण होता है। ब्रह्मग्रन्थि का यह भाग कफ आदि अवरोधक तत्वों से ढका रहता है अतः इसके आवरण-मल को हटाने के लिये योगशास्त्रों में हठयोग' प्राणायाम-प्रक्रिया का निर्देश करता है।

(२) मूलाधार से अनाहत का मध्य भाग **'विष्णु ग्रन्थि'** स्थल है। इसे सुषुम्ना का तृतीय भाग भी कहते हैं। यही मूलाधार से एक ओर जुड़ा हुआ है और दूसरी ओर अनाहत चक्र के पास सुषुम्ना के द्वितीय भाग से जुड़ता है। स्थूल तत्त्व, अग्नि, जल और पृथिवी के स्थान अर्थात् इन तत्त्वों से सम्बद्ध चेतना के केन्द्र इसी भाग में हैं। ब्रह्मग्रन्थि-भेदन रूप प्रथम उद्‌बोधन के पश्चात् इस द्वितीय ग्रन्थि का भेदन करने के लिये प्राणायाम के पहले से कुछ उत्कृष्ट प्रयोगों का निर्देश हठयोग में हुआ है।

(३) अनाहत चक्र से आज्ञा चक्र के मध्य का भाग **'रुद्र ग्रन्थि'** स्थल माना गया है। यह सुषुम्ना का द्वितीय भाग कहलाता है। यही एक ओर से आज्ञाचक्र के पास सुषुम्ना के प्रथम भाग से जुड़ता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी ओर अनाहत से जुड़ा हुआ है। इन दोनों के संयोग-स्थलरूप रुद्रग्रन्थि के ऊपरी भाग से अवबोधक चेतना और प्रेरक चेतना का नियमन होता है। शरीर में यह स्थल भ्रू मध्य में माना जाता है। इससे कुछ नीचे कण्ठ के पास विशुद्धि चक्र है, जहाँ से अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान और क्रिया चेतना का नियमन होता है। यहाँ आकाश तत्त्व की प्रधानता होने से आकाश के गुण शब्द की उत्पत्ति एवं उसके ग्रहण का नियमन केन्द्र भी यहीं है। इससे नीचे हृदय के पास सुषुम्ना के इस अंश का नीचे वाला भाग है, जिसे वायु का स्थान कहते हैं। समग्र स्पर्श चेतना एवं अंग-प्रत्यंगों के कम्पन तथा गति का नियमन, यहाँ तक कि रक्त की गति का नियमन भी इसी केन्द्र से होता है।

(४) **सहस्रदल-पद्म**—उपर्युक्त पद्धति से कुण्डलिनी-प्रबोधन के पश्चात् जब वह अपने स्थान को छोड़कर उत्थित होती है तो शरीर में स्फुरण होने लगता है। जैसे-जैसे यह महाशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर की ओर बढ़कर सहस्र दल पद्म में पहुँचती है तो शरीर निर्विकल्प समाधि की दशा में भारहीन हो जाता है तथा चिदानन्द प्राप्ति की अनुभूति होती है। यही मनुष्य की साधना का अन्तिम लक्ष्य है। कहा जाता है कि आज्ञाचक्र से सहस्रार के बीच 'असी' और 'वरुणा' नामक दो नाडियाँ हैं। यही स्थान 'वाराणसी' नाम से जाना जाता है। यही इन दोनों का सङ्गम स्थान है। आज्ञाचक्र से आगे का मार्ग अति जटिल है क्योंकि यह 'कैलाश-मार्ग' है। कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर आज्ञाचक्र तक तो पहुँच जाती है, किन्तु वहाँ से आगे इसको ले जाना साधक के वश की बात नहीं होती। इसलिये गुरु स्वयं—शिष्य की योग्यता, भक्ति, श्रद्धा आदि देखकर अपनी शक्ति से कुण्डलिनी को इस दुरूह मार्ग से पार करवाकर सहस्रार तक पहुँचाते हैं।

नारियल के अति कच्चे गूदे के समान सहस्रार-पद्म में विद्यमान पदार्थ में सहस्रदल कमल की कल्पना करके उसके सहस्र पत्रों में से बीस-बीस पत्रों पर वर्णमाला के पचास अक्षरों में से एक-एक अक्षर के अङ्कित होने का संकेत शास्त्रों में किया गया है। इस प्रकार वर्णमाला की आवृत्तियाँ होने से यक्षिणी आदि सहस्र शक्तियाँ अंकुरित होती हैं। यक्षिणी आदि सहस्र शक्तियों के समष्टि रूप शुक्र धातु की अधिष्ठात्री याकिनी शक्ति प्रकट होती है। यही याकिनी शक्ति विश्वरूपिणी, एकविंशतिमुखी, समस्त धातु एवं तत्त्वरूपिणी परशिव में आसक्त कुल-कुण्डलिनी की रूपान्तर-स्वरूपिणी भैरवी—भ्रमरनादोत्पादिनी शक्ति है। सहस्रार चक्र की स्थिति मस्तिष्क में मानी गयी है। इसका वर्ण कर्पूर के समान है। इसकी कर्णिका के मध्य पाशवकल्प से परमात्मा की भावना और वीरकल्प एवं कुलकल्प में पूर्णचन्द्राकार की भावना होती है। इसके मध्य में परशिव-गुरु का स्थान है। इसके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है और उसके बीच शून्य स्थान में स्थित परशिव से कुण्डलिनी को जगाकर संयोग कराना ही उपयोग-रूप साधना का लक्ष्य है।

(२) अन्य क्रियात्मक प्रकार

योग-साधना में एकाधिक प्रकारों से कुण्डलिनी-प्रबोधन के विषय में कहा गया है। उनमें से एक अनुभूत-प्रयोग इस प्रकार है—

सर्वप्रथम शुद्ध आसन पर स्वयं शुद्ध होकर बैठे तथा गुरु-स्मरणपूर्वक 'गुरुस्तोत्र' का पाठ करके लिङ्गमुद्रा से अकुलस्थ गुरु को भावना सहित प्रणाम करे। इसके बाद छोटिका-मुद्रा द्वारा दिग्बन्धन भूतोत्सारण भावना द्वारा तालत्रय करते हुए भावना करे कि 'इस मण्डल में बाह्य बाधाएँ न हों'।

www.jainelibrary.org

फिर क्रिया आरम्भ के भैरव-नमस्कार करके नाम स्मरण सहित गुरु, परमगुरु एवं परमेष्ठी गुरु को तथा गणेश एवं इष्टदेवता को प्रणाम करे। तब गुरु द्वारा प्राप्त दीक्षा-मन्त्र का यथाशक्ति जप करके श्रीगुरु को विहित जप अर्पित करे।

इसके पश्चात् पूरक, कुम्भक, रेचक के क्रम से प्राणायाम द्वारा अन्तरङ्ग दोषों को जलाकर निम्न क्रियाओं को प्रारम्भ करे—

(१) पहले ५ पाँच भस्त्रिका करे। (इसमें ५ बांये से, ५ दाहिने से और ५ दोनों से प्रयोग होगा।)

(२) यथाशक्ति कुम्भक करके बाँये से शनैः शनैः रेचक करे। (ऐसा ५ बार करना चाहिये।)

(३) बाद में निम्नलिखित ५ आसन करे—

(१) हलासन, (२) सर्वांगासन,
(३) अर्धमत्स्यासन, (४) पश्चिमोत्तानासन तथा
(५) सर्पासन।

(४) उपर्युक्त ५ आसन करने के पश्चात् भस्त्रिका करके कुम्भक में निम्नलिखित तेरह क्रियाए करे—

(१) शक्ति चालन, (२) शक्तिताड़न,
(३) शक्तिघर्षण, (४) कन्दचालन,
(५) कन्दताड़न, (६) कन्दघर्षण,
(७) टंकमुद्रा, (८) प्रधानपरिचालन,
(९) बन्धमुद्रा, (१०) महामुद्रा,
(११) महाबन्ध, (१२) महावेध, और
(१३) शवमुद्रा।

उपर्युक्त प्रयोग और क्रियाएँ मलशुद्धि के साथ नित्य प्रातःकाल करने से कुण्डलिनी जो प्रसुप्त है, वह जागृत होने लगती है। क्रिया करते समय शरीर से प्रथम प्रस्वेद निकलता है, उसे हाथों से शरीर पर ही रगड़ देना चाहिये, कपड़े से पोंछना नहीं।

इन क्रियाओं को करते रहने से प्रायः ३ मास में कुण्डलिनी प्रबोधन अवश्य होता है। अभ्यास काल में घृत, दूध, फलादि और सात्विक भोजन करना चाहिये। कम बोलना, कम चलना, तथा ब्रह्मचर्य-पालन के साथ-साथ इष्टमन्त्र का जप श्वास-प्रश्वास में करते रहना चाहिये।

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि—

सुप्ता गुरु-प्रसादेन सदा जागर्ति कुण्डली।
सदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् गुरुकृपा से जब निद्रिता कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तब मूलाधारादि षट्चक्रों की ग्रन्थियों का भेदन भी हो जाता है। इसलिये सर्वविध प्रयत्न से ब्रह्मरन्ध्र के मुख से उस निद्रिता परमेश्वरी शक्ति कुण्डलिनी को प्रबोधित करने के लिये प्राणायामादि क्रिया तथा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये।

(३) प्राण-साधना से कुण्डलिनी-प्रबोधन

प्राण भी कुण्डलिनी का ही अपर नाम है। इसी प्राणवायु को शून्य नाड़ी के अन्दर से साधना एवं क्रिया द्वारा उठाकर सहस्रार तक पहुँचाया जाता है। वहां पहुँचने पर साधक शरीर और मन से पृथक हो जाता है तब आत्मा अपने मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करता है। योग-विज्ञान के अनुसार आत्मा का परमात्मा से, अपान का प्राण से, स्वयं के रजस् से रेतस् का, सूर्य से चन्द्र को मिलाना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। प्राण ही सृष्टि का प्रथम कारण है, स्थूल और कारण शरीर का इससे सम्बन्ध है। प्राण की विभिन्न अवस्थाएँ ही शक्ति का स्वरूप हैं। प्राण का तात्पर्य यहाँ श्वास-प्रश्वास मात्र न होकर पञ्चप्राण बाह्य एवं नाग-कूर्मादि-पञ्चक आभ्यन्तर की समष्टि है जोकि समस्त चेतना का मूल आधार है। इसी के बारे में "प्रश्नोपनिषद्" का कथन है कि—"तस्मिन्नुत्क्रामति, इतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते।" इसी का नाम प्राण-शक्ति है। इस अनन्त चेतना शक्ति के स्रोत को जागृत करने के भी अनेक उपाय हैं जिनमें 'केवल कुम्भक' को सर्वोपयोगी माना है।

इस साधना की प्राथमिक तैयारी के रूप में स्थूल शरीर की शुद्धि अत्यावश्यक है। अतः 'नेति, धौति, बस्ति, कुंजर, शंखप्रक्षालन और त्राटक' इन षट्कर्मों की तथा नाड़ीशुद्धि के लिये 'महामुद्रा, महाबन्ध तथा सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, सीत्कारी, भृंगी एवं भस्त्रिका प्राणायाम करने चाहिये। केवल-कुम्भक के लिये पहले कुम्भक किया जाता है जिससे नाड़ीशुद्धि होकर प्राण और अपान निकट आने लगते हैं। मणिपूर के पास स्थित अग्नि तीव्र होती है, जिसके ताप से ब्रह्मनाड़ी के अग्रभाग पर जमे हुए कफादि अवरोधक मल नष्ट हो जाते हैं। सुषुम्ना का मुख खुल जाता है और कन्द से जुड़ा हुआ सुषुम्ना का निम्नतम भाग शुद्ध सुषुम्ना के मुख से जुड़ जाता है तथा प्राणशक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है। तब केवलकुम्भक साधना से ग्रन्थिभेदनपूर्वक प्राण ऊपर उठते हैं। केवलकुम्भक की सिद्धि हो जाने से उत्तरोत्तर पंचभूत धारणा की सिद्धि हो जाती है तथा प्राण आज्ञाचक्र में प्रवेश करते हैं। यहाँ ध्यान की सिद्धि होती है और तदनन्तर प्राणों का ऊर्ध्वगमन होता है, यहीं योगी को कैवल्य प्राप्ति होती है। अतः प्राणों का सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा ऊपर तक पहुँचना **'केवलकुम्भक-सिद्धि'** कहलाता है।

इसी प्रकार की न्यूनाधिक क्रियाएँ—(१) ध्यानयोग, (२) मुद्रायोग, (३) आसनयोग आदि भी यौगिक कुण्डली-प्रबोधन के प्रकारों में स्वीकृत हैं।

(४) मन्त्रयोग और कुण्डलिनी-प्रबोधन

आध्यात्मिक संसार में प्राण-साधना को आत्मा परमात्मा से मिलाने के लिये 'मन्त्रयोग' को अत्यावश्यक माना गया है। केवल प्राणायामादि क्रियाओं में मन का नियन्त्रण कुछ कठिन होता है तथा वे कायकष्ट का कारण भी बन जाती हैं, अतः बीज-मन्त्र, मूलमन्त्र, मालामन्त्र, प्रत्येक चक्र और उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विराजमान देवों के मन्त्रों का क्रमिक जप करना शास्त्रविहित है। तन्त्रशास्त्रों में कुण्डलिनी को कामकला कहा गया है, इसीलिए इसका स्वरूप "ई" से दिखाया जाता है। इस ईं बीज की बनावट में भी साढ़े तीन आवेष्टन होते हैं। इसकी आकृति में भीं स्थिरता है। प्रत्येक भाषा की लिपि में इसका रूप प्रायः समान ही रहता है। यथा हिन्दी में ई, अंग्रेजी में 'E' और उर्दू में 'ऽ' इत्यादि। देवोपासना में ॐ का भी यही स्वरूप है, वहाँ भी साढ़े तीन आवर्त यथावद् गृहीत हैं। इसी क्रम में भक्तियोग के रूप में कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम-पाठ के भी पर्याप्त विधान हैं। और औषध सेवन से भी सहयोग प्राप्त किया जाता है, जिसका विस्तृत ज्ञान अन्य तद्विषयक ग्रन्थों में प्राप्त है।

+

पुष्प-सूक्ति-सौरभ——————————

- ☐ जैसे माता अपने बालक पर वात्सल्य वर्षा करती रहती है, तब अपने सभी दुःखों को भूल जाती है, बालक के संवर्द्धन-संरक्षण के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वैसे ही विश्व-वात्सल्य का साधक भी समाज, राष्ट्र या विश्व को बालक मानकर उसके दुःखों को स्वयं कष्ट सहकर भी दूर करे।
- ☐ माता स्वयं भूखी रहकर भी तृप्त रहती है, नम्र भाव से सेवा करती है वैसे ही स्वयं भूखे-प्यासे रहकर समाज, राष्ट्र एवं विश्व के सभी प्राणियों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करें।
- ☐ वात्सल्य के बहाने कहीं मोह, आसक्ति या राग न घुस जाय इसकी सावधानी रखना अति आवश्यक है।
- ☐ जैसे बच्चों को वात्सल्य देने वाली माता को अपने बच्चों के खा-पी लेने पर स्वयं भूखे रहने में भी आनन्द की अनुभूति होती है, वैसे ही वात्सल्य-युक्त पुरुष एवं महिला को परिवार एवं समाज से ऊपर उठकर समग्र मानव समाज के प्रति वात्सल्य लुटाने पर आनन्द की अनुभूति होती है।

——————————**पुष्प-सूक्ति-सौरभ**

+

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org